
इकाई 12 भारतीय रंगमंच

इकाई की रूपरेखा

- 12.0 उद्देश्य
- 12.1 प्रस्तावना
- 12.2 भारत में रंगमंच परम्परा
 - 12.2.1 संस्कृत रंगमंच
 - 12.2.2 लोक रंगमंच
 - 12.2.3 आधुनिक रंगमंच
- 12.3 भारत में नाट्य परम्परा
 - 12.3.1 संस्कृत नाटक
 - 12.3.2 संस्कृतोत्तर नाटक
 - 12.3.3 आधुनिक नाटक
- 12.4 आधुनिक भारतीय रंगमंच
 - 12.4.1 पारसी रंगमंच
 - 12.4.2 अभिजात्य रंगमंच
 - 12.4.3 जनोन्मुखी रंगमंच
- 12.5 विभिन्न नाट्य शैलियां
 - 12.5.1 पाष्चात्य नाट्य शैली
 - 12.5.2 संस्कृत नाट्य शैली
 - 12.5.3 लोक नाट्य शैलियां
 - 12.5.4 अन्य नाट्य शैलियां
- 10.5 सारांश
- 10.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.0 उद्देश्य

पर्यटन के क्षेत्र में सक्रिय संस्थाओं और व्यक्तियों के लिए भारतीय संस्कृति के विभिन्न पहलुओं से परिचित होना जरूरी है। भारतीय संस्कृति और कला के विकास की समृद्ध परंपरा को हम भारतीय रंगमंच के माध्यम से भी जान सकते हैं। यह इकाई आपको भारतीय रंगमंच के इतिहास और वर्तमान से परिचित कराएगी। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- भारत की रंगमंच परंपरा का परिचय दे सकेंगे;
- भारत की नाटक परंपरा को समझा सकेंगे;

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

- आधुनिक भारतीय रंगमंच के विभिन्न रूपों का विवरण दें सकेंगे;
- बंगला, मराठी, हिंदी आदि भारतीय भाषाओं के नाटकों की परंपरा का उल्लेख कर सकेंगे; तथा
- आधुनिक भारत की प्रमुख नाट्य शैलियों का वर्णन कर सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

“भारतीय संस्कृति : पर्यटन परिदृष्टि” पाठ्यक्रम के खंड-4 “लोकप्रिय संस्कृति” की यह पहली इकाई है। इस इकाई में हम आपको भारतीय रंगमंच की समृद्ध परंपरा का संक्षिप्त परिचय देंगे। भारत में नाटक लिखने और खेलने की बहुत प्राचीन परंपरा रही है। नाटक के साथ-साथ रंगमंच का भी विकास हुआ था। भरत के नाट्य शास्त्र में नाटक, रंगमंच, दर्षक, नाटक देखने से होने वाली अनुभूति (जिसे रस कहा गया है) आदि पर विचार किया गया है। भारत में संस्कृत नाटक की परंपरा के साथ-साथ विभिन्न क्षेत्रों की अपनी समृद्ध लोक नाट्य परंपरा रही है। संस्कृत की नाट्य परंपरा का तो मध्य युग में विकास नहीं हो सका परंतु लोक नाट्य परंपरा कभी अवरुद्ध नहीं हुई और वह हमेशा गतिशील रही।

आधुनिक युग में नाट्य परंपरा का नये रूप में आविर्भाव हुआ। नये प्रेक्षागृह (थियेटर) बने। पश्चिम के संपर्क में आने के कारण नाटक की ग्रीक परंपरा और पश्चिम के आधुनिक रंगमंच और उसकी परंपरा से परिचय हुआ। आधुनिक भारतीय रंगमंच के विकास में संस्कृत परंपरा, लोक परंपरा एवं पश्चिम की नाट्य परंपरा का योगदान रहा है। इसके साथ-साथ आधुनिक नाट्य कर्मियों ने नये प्रयोग भी किए। इन सभी पक्षों की जानकारी से भारतीय रंगमंच की एक मुकम्मिल तस्वीर हमारे सामने उभर सकती है। पर्यटन के क्षेत्र में सक्रिय लोगों के लिए यह इकाई इस दृष्टि से काफी उपयोगी साबित होगी कि वे न केवल भारतीय रंगमंच से परिचित हो सकेंगे बल्कि इस परंपरा की विषिष्टताओं से दूसरों को विषेषतः पर्यटक को परिचित करा सकेंगे?

12.2 भारत में रंगमंच परंपरा

भारत में नाटक और रंगमंच की परंपरा की शुरुआत कब हुई यह निश्चयपूर्वक कहना मुश्किल है। कुछ विद्वानों का मत है कि भारतीय नाटकों के विकास में आर्यतर सभ्यता और संस्कृति का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। लेकिन यह योगदान किन-किन रूपों में रहा, इसको आज पहचानना मुश्किल है। इतना अवश्य है कि संस्कृत की जो विकसित नाट्य परंपरा दिखाई देती है, उसका अस्तित्व तब तक संभव नहीं हो सकता था जब तक कि उससे पूर्व नाटकों की लोक परंपरा मौजूद न रही हो। इस दृष्टि से संस्कृत नाटकों से पूर्व की लोक नाट्य परंपरा का क्या स्वरूप रहा होगा, यह अनुसंधान का विषय है। इस परंपरा का कुछ अनुमान आज हम संस्कृत नाटकों, नाट्य संबंधी ग्रंथों और लोक नाट्य की मौजूदा परंपरा से ही कुछ हद तक कर सकते हैं। इस दृष्टि से यहां संस्कृत और लोक नाट्य परंपरा का परिचय देना उपयुक्त होगा।

12.2.1 संस्कृत रंगमंच

ऋग्वेद संस्कृत का सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रंथ है। इसमें कई तरह की कलाओं का उल्लेख किया गया है जिनमें संगीत, वास्तु, नृत्य, काव्य आदि शामिल हैं लेकिन एक कला के रूप में नाट्य कला को उल्लेख नहीं है। ऋग्वेद के मंत्र-साहित्य में संलाप सूक्त है। इन सूक्तों में नाट्य साहित्य का आदि रूप प्राप्त होता है। ऋग्वेद में उर्वशी और पुरुरवा संलाप इस दृष्टि से उल्लेखनीय है क्योंकि यही बाद के काल में विभिन्न ग्रंथों में विकसित होता रहा है और कालिदास ने इसी को आधार बनाकर अपना प्रसिद्ध नाट्य ग्रंथ विक्रमोर्वशीयम् लिखा था। यजुर्वेद में अभिनेता षड् का उल्लेख आया है।

भारत के प्रख्यात ग्रंथ नाट्यशास्त्र जिसकी रचना तीसरी और पांचवीं शताब्दी के बीच मानी जाती है, में दो विषयों पर विचार किया है : “रस” और “रस” की अभिव्यक्ति के साधन। रस का तात्पर्य है, वह

अनुभूति जिसको नाटक द्वारा व्यक्त किया जाता है। इसे व्यक्त करने के नाट्य शास्त्र में चार साधन माने गये हैं।

- 1) आंगिक : शरीर के अंगों के द्वारा किया गया अभिनय।
- 2) वाचिक : संवादों के उपयुक्त उच्चारण द्वारा किया गया अभिनय।
- 3) सात्विक : भाव स्थितियों को व्यक्त करने वाले अनुभाव।
- 4) आहार्य : वे सभी सामग्रियां जो नाट्य प्रदर्शन के लिए आवश्यक हैं, जैसे—रंग, वेष—भूषा, अलंकार।

इनमें रंगमंच में नाट्य वस्तु के अनुरूप सामग्री का भी वर्णन है। भरत ने अपने “नाट्य शास्त्र” में रंगमंच की रचना और उसके प्रबंध के उपायों का भी वर्णन किया है। नाटक के आवश्यक संसाधन के रूप में नृत्य तथा संगीत की भी विस्तृत व्याख्या की गई है। अभिनेता में क्या विशेषताएं होनी चाहिए, यह भी बताया गया है।

प्राचीन भारत में विवाह, यात्रा, अभिषेक, नगर या गृह प्रवेश, पुत्र जन्म तथा विशेष उत्सवों पर नाटक आयोजित किए जाने की परंपरा थी। अभिजात वर्ग के नाटक राजमहलों और मंदिरों के प्रांगण में अभिनीत होते थे जबकि जनसाधारण के लिए नाटक कहीं भी खुले, प्रांगणों और यात्राओं के दौरान खेले जाते थे।

प्राचीन संस्कृत पुस्तकों में प्रेक्षागृहों के आकार—प्रकार के बारे में भी विस्तृत चर्चा मिलती है। नाट्यशास्त्र में मंडप कोटि की नाट्यशालाओं का उल्लेख मिलता है। अन्य संस्कृत ग्रंथों में रंगमंच, प्रेक्षकों के बैठने के स्थान आदि के विविध प्रकारों का विवरण प्राप्त होता है। इन सबसे स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में रंगमंच के विभिन्न पहलुओं पर गहन विचार किया गया था।

12.2.2 लोक रंगमंच

भारत में संस्कृत की समृद्ध रंगमंच उपस्थिति के युग में लोक रंगमंच अवश्य मौजूद था, यह कई विद्वानों का मत है। संस्कृत नाट्य परंपरा तो मध्य युग में अवरुद्ध हो गई थी लेकिन नाटकों की लोक परंपरा कभी रुकी नहीं। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में आज भी पचीस से अधिक नाट्य शैलियां मौजूद हैं। इनमें उत्तर भारत में खेले जाने वाली नौटंकी, रामलीला और रास लीला बंगाल में जात्रा, बिहार और असम में अंकिया नाट, कीर्तनिया तथा विदेसिया, राजस्थान का ख्याल और कठपुतली, महाराष्ट्र में तमाषा, पंजाब में सांग और नौटंकी, काश्मीर में भांगड जषन, हिमाचल प्रदेश में करयाला, गुजरात में भवई, मध्य प्रदेश में मांच, केरल में कुडियाट्टम और चबिट्ट, तमिलनाडु में भागतवमेल, कर्नाटक में यक्षगायन और आंध्रप्रदेश में कुचिपुडि के नाम उल्लेखनीय हैं।

लोक नाट्य रूपों की उत्पत्ति, संस्कृत नाट्यग्रंथों में उल्लिखित सांगीतिक से मानी जाती है। इसमें पांच तत्व होते हैं — गीत, वाद्य, नृत्य, रंगशाला तथा नट—नटी। जाहिर है कि लोक नाट्य शैलियों में भी ये ही तत्व दिखाई देते हैं हालांकि रंगशाला का रूप अभिजात नाटकों की रंगशालाओं से भिन्न होता था और कई लोक नाट्य शैलियों में तो रंगशालाओं की उस तरह से दरकार नहीं होती थी। उदाहरण के लिए रासलीला को थोड़े ऊंचे मंच पर भी प्रस्तुत किया जाता था और प्रेक्षकों के मध्य समान धरातल पर भी।

लोक नाट्य के विषय आमतौर पर दो तरह के होते हैं — लौकिक और धार्मिक। रामलीला और रासलीला मुख्य रूप से धार्मिक नाट्य शैलियां हैं जबकि कीर्तनियां, अंकिया नाट में भी धार्मिक कथाओं और प्रसंगों को ही पेश किया जाता है। नौटंकी, स्वांग, भांड, तमाषा, ख्याल आदि लौकिक कथाओं और

प्रसंगों पर आधारित है। जात्रा जैसी कुछ षैलियों को धार्मिक और लौकिक दोनों रूपों में प्रयुक्त किया जाता है।

12.2.3 आधुनिक रंगमंच

जैसा कि हम कह चुके हैं कि आधुनिक भारतीय रंगमंच का संबंध तीन तरह की रंग-परंपराओं से है। पहली, संस्कृत रंगमंच परंपरा, दूसरी लोक रंगमंच परंपरा और तीसरी, पाष्चात्य रंगमंच परंपरा। यह तीसरी रंगमंच परंपरा ही वस्तुतः आधुनिक रंगमंच का आधार मानी जा सकती है। हम यह उल्लेख कर चुके हैं कि संस्कृत की समृद्ध परंपरा मध्य युग में लुप्त हो गई थी और अभिजात वर्ग के बीच नाटकों को खेले जाने की अपनी कोई स्वतंत्र परंपरा विद्यमान नहीं रही थी। कुछ विद्वान इस मत को नहीं मानते। उनके विचार में मध्य युग में भी संस्कृत परंपरा विद्यमान रही है। यद्यपि जनता के बीच लोक रंगमंच मौजूद था जिसके बारे में हम उपभाग 12.2.2 में संक्षिप्त जानकारी हासिल कर चुके हैं।

आधुनिक भारतीय रंगमंच की शुरुआत अंग्रेजों के आगमन के बाद से होती है। अंग्रेजों ने अपनी शासन व्यवस्था और व्यापार के केंद्र के रूप में कलकत्ता, पश्चिम में बंबई और सूरत तथा दक्षिण में मद्रास को विकसित किया। अपने मनोरंजन के लिए अंग्रेजों ने इन नगरों में थियेटर स्थापित किए।

कलकत्ता में रूसी मूल के लेवडेफ ने बंगाली थियेटर नामक नाट्यशाला की स्थापना की। डिसगाइज तथा लव इज दि बेस्ट डॉक्टर नामक नाटकों का स्वतंत्र रूपांतरण कराकर 21 नवंबर 1765 यानी आज से लगभग 230 साल पहले उनका प्रदर्शन किया गया। लेवडेफ की देखा-देखी कई अमीर नाटक प्रेमियों ने अपने घरों, बाग-बगीचों में थियेटर बनाकर नाटकों का प्रदर्शन आरंभ किया। इसके बाद कई अन्य जगहों पर भी थियेटरो की स्थापना की गई और नाटक खेले गये।

एक बार जब नाटकों के प्रति रुचि जागृत हो गई तो नाटकों के व्यासवसायिक प्रदर्शन की शुरुआत भी होना लाजमी था। इसके लिए थियेट्रिकल कंपनियां बनीं जिनमें पारसी थियेटर कंपनियां सबसे अधिक लोकप्रिय हुईं। इन थियेट्रिकल कंपनियों ने विभिन्न प्रदेशों का दौरा कर न केवल खूब पैसा बनाया बल्कि भारतीय भाषाओं में नाटक लिखने और नाटकों के प्रति लोगों में रुचि जगाने में भारी मदद की। हालांकि इन कंपनियों का उद्देश्य पैसा कमाना था इसलिए इनके माध्यम से न तो उत्कृष्ट नाटकों के लेखन को प्रोत्साहन मिल सकता था, न ही रंग-प्रस्तुति में नवीन प्रयोग संभव थे। यद्यपि इन नाटक कंपनियों ने थियेटर को एक लोकप्रिय रूप देने में अमूल्य योगदान किया था।

आधुनिक काल में जो रंगमंच अस्तित्व में आया, उस पर पश्चिम के रंगमंच का गहरा असर था। इसलिए इसमें वे सब विशेषताएं थीं जो पश्चिम के रंगमंच की पहचान के आधार थे। भारत में नाटकों की परंपरा सुखांत नाटकों (कामदी) के रूप में विकसित हुई थी जबकि पश्चिम में दुखांत नाटकों (त्रासदी) को अधिक महत्व दिया जाता था यद्यपि कामदी का भी पश्चिम में अभाव नहीं था। नाटकों की आधुनिक शुरुआत पश्चिम के प्रभाव से होने का मतलब यह नहीं था कि आधुनिक भारतीय रंगमंच मात्र पश्चिम का अनुसरण था। इसके विपरीत भारतीय समाज में आधुनिकीकरण की जो प्रक्रिया चल रही थी और नवजागरण ने जो सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन किए थे, उसका स्वाभाविक परिणाम था कि साहित्य और कला के क्षेत्र में भी परिवर्तन होते।

आधुनिक भारतीय रंगमंच ने आरंभ में परंपरागत ऐतिहासिक और पौराणिक विषयों पर भी नाटक लिखे। इसके साथ-साथ बहुत शीघ्र ही भारतीय रंगमंच ने संस्कृत नाट्य षैलियों और लोक नाट्य षैलियों से प्रेरणा लेकर कई नये परिवर्तन किये। उदाहरण के लिए, पारसी थियेटर के नाटकों में संगीत, गीत और नृत्य का इतना अधिक महत्व वस्तुतः लोक नाट्य षैलियों के ही प्रभाव का परिणाम था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के दौर में भारतीय रंगमंच ने अपने को समृद्ध और नवीन बनाने के लिए लोक नाट्य षैलियों और संस्कृत नाट्य परंपरा दोनों से बहुत कुछ ग्रहण किया, यद्यपि अपने मूल रूप में आधुनिक नाटक पश्चिम के यथार्थवादी नाट्य षैली को ही अपनाए रहा। बादल सरकार, षंभु मित्र,

विजयन तेंदुलकर, बी. वी. कारंत, इब्राहिम कलकाजी, गिरीष कर्नाड, उत्पल दत्त आदि विभिन्न नाट्य कर्मियों ने न केवल नाट्य प्रस्तुति में वरन् रंग विधान में भी कई नये प्रयोग किये।

सत्तर के बाद के दशक में नाट्य परंपरा में एक नया बदलाव आया जब नाटकों को प्रेक्षागृह से मुक्त कर गलियों और नुक्कड़ों पर ले जाया गया। इसने रंगमंच के क्षेत्र में एक उल्लेखनीय बदलाव की सृष्टि की। हालांकि इससे रंगमंच आधारित नाट्य कर्म का महत्व कम नहीं हुआ।

बोध प्रश्न 1

1) लोक रंगमंच के विभिन्न रूपों पर विचार कीजिए।

2) कालिदास के नाटक "विक्रमोर्वशीयम्" के मुख्य कथानक का सबसे प्राचीन स्रोत किस पुस्तक में मिलता है?

3) निम्नलिखित रंगमंचीय रूप किन प्रदेशों से जुड़े हैं, उन्हें मिलाइए।

- | | |
|----------------|-----------------|
| 1) जात्रा | क) कर्नाटक |
| 2) ख्याल | ख) असम |
| 3) अंकियास नाट | ग) पश्चिम बंगाल |
| 4) यक्षगान | घ) महाराष्ट्र |
| 5) तमाषा | ड.) राजस्थान |

12.3 भारत में नाटक परंपरा

भारत ने नाट्यशास्त्र में नाटक की उत्पत्ति के बारे में कहा है कि ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर ब्रह्मा ने पांचवें नाट्यवेद की रचना की। यह कहना तो मुश्किल है कि भारत में नाटक लेखन की परंपरा कब से शुरू हुई होगी परंतु भारत ने अपने नाट्यशास्त्र में अनेक नाटकों के खेले जाने का उल्लेख किया है। संस्कृत नाटककारों में सर्वश्रेष्ठ कालिदास जिनका काल पांचवीं सदी माना जाता है, उन्होंने अपने से पूर्व के नाटककारों में भास, सौमिल्ल और कविपुत्र का उल्लेख किया है। कालिदास ने भारत को भी अत्यंत श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। ई. पू. पांचवीं सदी के वैयाकरण पाणिनी ने अपने ग्रंथ अष्टाध्यायी में षिलाली और कुषाष्व के नटसूत्रों का उल्लेख किया है।

भारत में नाटक का आरंभ कैसे हुआ इसके बारे में भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि नाटक का आरंभ विष्णु पूजा से हुआ तो कुछ के अनुसार पुतलियों के नाच से। कुछ इसका मूल वेदों में पाते हैं तो कुछ इसे ग्रीक परंपरा का प्रभाव मानते हैं। कुछ विद्वानों के विचार से मृत पूर्वजों की पूजा और छाया नाटकों से नाटकों का संबंध मानते हैं। नाटकों का आरंभ चाहे जिससे हुआ हो परंतु यह सत्य है कि नाटकों की एक समृद्ध परंपरा बहुत पहले से ही होगी। भारतीय नाटकों की ज्ञात परंपरा हमें संस्कृत से ही मिलती है, इसलिए सबसे पहले संस्कृत नाटकों का संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है।

12.3.1 संस्कृत नाटक

संस्कृत में नाटक को काव्य के अंतर्गत ग्रहण किया गया है। काव्य के दो भेद माने गये हैं श्रव्य और दृश्य। श्रव्य काव्य वह है जिसका आनंद सुनकर लिया जाता है जैसे कविता, कहानी आदि जबकि दृश्य काव्य में आनंद देखकर लिया जाता है, जैसे नाटक। नाटक को भारतीय परंपरा में रूपक भी कहा जाता है। संस्कृत में रूपक के कई भेदों की विस्तृत चर्चा मिलती है। संस्कृत में दस तरह के रूपक का उल्लेख है। जैसे, नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी और प्रषान इनमें एकांकी, एकालाप से लेकर पूरे नाटक तक सभी सम्मिलित हैं।

संस्कृत नाटकों में प्रस्तावना, विषकम्भक और प्रवेशक का खास महत्व है। प्रस्तावन में सूत्रधार कहानी का परिचय देता है। विषकम्भक और प्रवेशक का खास महत्व है। प्रस्तावना में सूत्रधार कहानी का परिचय देता है। विषकम्भक और प्रवेशक एक अंक से दूसरे अंक को जोड़ने वाले अंग होते हैं। सूत्रधार आरंभ और अंत में ही आता है। आरंभ में कथा का परिचय देने और अंत में भरत वाक्य कहने के लिए। सूत्रधार नाटक का हिस्सा नहीं होता।

दूसरी-तीसरी शताब्दी के भास ऐसे पहले संस्कृत नाटककार हैं जिनके नाटक उपलब्ध हैं। इनमें स्वप्नवासवदत्ता सर्वाधिक उल्लेखनीय है। शस से भी पूर्व अष्वघोष के नाटक सारिपद्ध प्रकरण की चर्चा भी आवष्यक है परंतु वह पूरा उपलब्ध नहीं है। भास के नाटक उस समय की परंपरा के अनुसार महाकाव्यों के कथानकों पर आधारित है। दूत वाक्य, दूत घटोत्कच आदि नाटक दुखांत हैं।

भास के बाद सबसे उल्लेखनीय नाटककार कालिदास हैं जिनका काल लगभग पांचवीं सदी माना जाता है। कालिदास के तीन नाटक मिलते हैं : मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञानषाकुंतल। यद्यपि कालिदास के सभी नाटक सुखांत हैं लेकिन उनमें जीवन के विविध रंग, अंतः और वाह्य संघर्ष का इतना अद्भुत चित्रण है कि आज भी वे लोगों के मस्तिष्क पर गहरा असर छोड़ते हैं।

शूद्रक रचित "मृच्छकटिक" एक माने में यथार्थवादी नाटक कहा जा सकता है जिसमें पहली बार समाज के ऐसे तबकों से पात्र लिए गए हैं जो संस्कृत नाटकों की आभिजात्य गरिमा के विपरीत नजर आते हैं।

सतवीं-आठवीं सदी के भवभूति और विषाखादत्त अन्य उल्लेखनीय नाटककार हैं। भवभूति के महावीर चरित, मालती माधव और उत्तर रामचरित नाटक मिलते हैं जिनमें उत्तर रामचरित की विशेष महत्ता है। भवभूति के राम भगवान राम नहीं हैं वरन एक आदर्शवादी राजा, अपनी पत्नी से गहरा प्रेम करने वाला पति है जो कर्तव्य और भावनाओं के बीच उलझा हुआ है और रास्ते की तलाश के लिए प्रयत्नशील है। विषाखादत्त का नाटक मुद्राराक्षस चंद्रगुप्त और चाणक्य की कथा पर आधारित है और बताता है कि नाटक के लिए राजनीतिक विषय भी प्रभावशाली हो सकता है।

इनके अतिरिक्त हर्ष का रत्नावली, नागानंद और प्रियदर्षिका, महेंद्रविक्रमवर्मन का कत्तिलवास, भट्टनारायण का "वेणीसंहार", मुरारी का "अनर्घ राघव", राजषेखर का "बाल रामायण" बालभारत, कर्पूर मंजरी, विद्वषाल मंजिका, क्षेमीष्वर का चंडकौषिक, दामोदर मिश्र का हनुमन्नाटक और कृष्णमिश्र का प्रबोधचंद्रोदय उल्लेखनीय संस्कृत नाटक हैं।

संस्कृत नाटकों की मुख्य विषेष्टता यह कही जा सकती है इनमें मनुष्य के पुरुषार्थ और भाग्य का संघर्ष दिखाया गया है इस संघर्ष में मनुष्य की विवशताओं, यातनाओं को भी प्रस्तुत किया गया है।

संस्कृत के नाटकों की इस समृद्ध परंपरा को आधुनिक नाट्य कर्मियों ने मंचित करने के कई प्रयास समय-समय पर किए हैं। कुछ ने प्राचीन संस्कृत नाट्य शैली में ही इन्हें प्रस्तुत किया, तो कुछ ने पश्चिम नाट्य शैली में। कुछ प्रयोगशील नाटककारों ने लोकनाट्य शैलियों ने भी इनकी प्रस्तुति की है। इन प्रदर्शनों से सफलता बहुत कम ही मिली है लेकिन इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि

आधुनिक भारतीय रंगमंच के लिए संस्कृत नाटक साहित्य, नाट्य शास्त्र तथा प्राचीन प्रदर्शन पद्धति तीनों का ही महत्व अद्वितीय और अनन्य है।”

12.3.2 संस्कृतोत्तर नाटक

भारत में नाटकों की परंपरा सबसे पहले किस भाषा में पुरु हुई होगी, यह कहना तो कठिन है परंतु सबसे प्राचीन नाटक संस्कृत में ही उपलब्ध हैं। संस्कृत नाटकों के विकास का श्रेय भास, पुद्रक, विषाखादत्त, कालिदास, भवभूति आदि को है जिन्होंने कथावस्तु, पात्रों का चरित्र चित्रण, काव्यात्मकता और अभिनेयता की दृष्टि से नाटकों को उत्कृष्ट गरिमा प्रदान की।

संस्कृत के बाद कतिपय नाटक पालि और प्राकृत में भी लिखे गये जिनमें भगवान बुद्ध और महावीर स्वामी के जीवन को नाटक का विषय बनाया गया। यह एक मिथ्या धारणा है कि मुसलमानों के आगमन के कारण नाटकों का लेखन और मंचन बंद हो गया जबकि सच्चाई यह है कि आठवीं सदी के बाद से ही नाटकों का मंचन काफी कम हो गया लेकिन परंपरागत लोक नाट्य रूपों की प्रस्तुति हमेशा अबाध रूप में जारी रही। नाटकों ————— और प्रदर्शन में लगातार कमी आने का कारण षायद यह था कि ब्राह्मण, बौद्ध और ————— का पंडित वर्ग नाट्य कला को हीन दृष्टि से देखता था। दूसरे, इस पूरे दौर में राजनीतिक अस्थिरता और सामंत वर्ग की सांस्कृतिक पतनशीलता के चलते भी अभिजात्य रंगमंच आधारित नाटकों को राजाश्रय मिलना बंद हो गया होगा। मुगलों के दौर में भक्ति आंदोलन ने एक व्यापक सांस्कृतिक जागरण की स्थिति पैदा की, तब अभिजात्य रंगमंच की वैसी आवश्यकता महसूस नहीं की गई क्योंकि भक्ति आंदोलन जनता के जिस हिस्से के बीच सक्रिय था, उसमें पहले से ही लोक नाट्य की समृद्ध परंपरा मौजूद थी और भक्ति आंदोलन के दौर में इन नाट्य षैलियों का न केवल उपयोग किया गया बल्कि कई नई नाट्य षैलियां विकसित भी हुईं।

रामलीला, रासलीला, जात्रा, यक्षगान, अंकिया नाट आदि में भक्तिमूलक कथाओं और देवी-देवताओं की चरित लीलाओं के प्रदर्शन ने जन सामान्य की भक्ति भावना को तृप्त करने के साथ उनका मनोरंजन भी किया। दूसरी ओर कठपुतलियों, भाण, ख्याल, छाया नाटक आदि षैलियों में लौकिक जीवन की रोचक अधिव्यक्ति होती थी। लोकनाटकों में कथावस्तु तो परंपरागत ही होती थी और नई विषयवस्तु का समावेश बहुत कम, अपवाद रूप में ही होता था परंतु उनमें गीत, नृत्य, संगीत आदि के ऐसे तत्व मिले होते थे कि वे दर्शकों को गहरे रूप में बांध लेते थे। लोकनाट्य षैलियों में खेले जाने वाले नाटकों को लिखित रूप में सुरक्षित रखने की परंपरा नहीं थी वरन् सथान, काल और खेलने वाले समूह की रुचि के अनुसार नाट्य-कथ्य में फेर बदलाव बहुत सामान्य बात थी।

संस्कृत नाटकों और आधुनिक नाटकों के बीच के लगभग एक हजार वर्ष के अंतराल को इन्हीं लोक नाट्य रूपों ने भरा जिन्होंने धार्मिक और लौकिक कथाओं के माध्यम से अपने समय की भावनाओं को दृष्टात्मक प्रस्तुति के जरिए अभिव्यक्त किया। आज भारतीय नाटक और रंगमंच के विकास में इनके योगदान को आसानी से पहचाना जा सकता है। नाटक लेखन के क्षेत्र में विजय तेंदुलकर (घासीराम कोतवाल), गिरीष कर्नाड (हयवदन), मणिमधुकर (रस गंधर्व), सर्वेष्वर दयाल सक्सेना (बकरी) अरुण मुखर्जी (मारीच संवाद), के. एन. पणिकर (अबैनवन् कटम्बा), सतीष आलेकर (महानिर्वाण) आदि ने पारम्परिक लोक नाट्य पद्धतियों, रूढ़ियों और बनावट का इस्तेमाल किया है।

13.3.3 आधुनिक नाटक

जैसा कि हम आरंभ में ही बता चुके हैं कि नाटकों के प्रति रुचि जाग्रत करने का श्रेय अंग्रेजों को है। जब अंग्रेजों द्वारा स्थापित थियेटर्स में हिंदुस्तानियों ने नाटक देखे और विदेशी नाटक साहित्य से परिचित हुए, तो उन्हें यह भी एहसास हुआ कि हमारी अपनी भाषाओं में नाट्य साहित्य नहीं है। इसलिए उस दौर के लेखक नाट्य लेखन की ओर प्रवृत्त हुए। पुरु में मौलिक नाटक लिखना तो संभव नहीं था इसलिए संस्कृत और अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद किये गये। इस तरह का सबसे पहला प्रयास बंगला

भाषा में हुआ। काली प्रसन्न सिंह ने 1857 में कालिदास के नाटक “विक्रमोर्वशीयम्” का “विद्योत्साहिनी” के नाम से अनुवाद किया। रामनारायण तर्करत्न ने वेणी संहार (1856), “रत्नावली” (1859), अभिज्ञान षाकुंतल और मालती माधव (1867) के अनुवाद किये। इसके आसपास ही असमिया, तेलुगु, पंजाबी, सिंधी, मराठी, हिंदी आदि में संस्कृत और अंग्रेजी से नाटकों के अनुवाद किये गये। विदेशी नाटकों के अनुवादों की एक विशेषता यह थी कि इनमें से अधिकांश अनुवाद मात्र अनुवाद नहीं थे बल्कि उनको भारतीय स्वरूप प्रदान किया गया था। उदाहरण के लिए, षेक्सपीयर के प्रसिद्ध नाटक “मर्चेंट ऑफ वेनिस” का बंगला में अनुवाद “भानुमति चित्रविलास” के नाम से किया गया था।

अनुवादों के बाद नाटककार मौलिक नाट्य लेखन की ओर प्रवृत्त हुए। पुरु में सभी भारतीय भाषाओं में नाटक पौराणिक प्रसंगों और ऐतिहासिक महादुरुषों के जीवन को आधार बनाकर लिखे जाते थे। साथ ही, सामाजिक समस्याओं पर प्रहसन भी लिखे गये। आरंभ में लिखे गये नाटकों में धार्मिक और नैतिक चेतन की प्रधानता थी परंतु राष्ट्रीय आंदोलन के तेज होने के साथ-साथ राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति भी नाटकों में प्रमुखता पाने लगी इसके लिए नाटककारों ने ऐतिहासिक कथानक और पात्र चुने। इन नाटकों में दुर्दमनीय साहस, निस्वार्थ त्याग, असीम करुणा और उज्ज्वल भविष्य का प्रभावशाली अंकन होता था जो पाठकों और दर्शकों को गहरे रूप में आंदोलित करता था।

बंगला में गिरीष चंद्र घोष, द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक ऐतिहासिक कथानकों पर आधारित थे। गिरीषचंद्र घोष के नाटकों में देश प्रेम की अपेक्षा धर्म-प्रेम की प्रधानता है जबकि द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों में राष्ट्रीयता भावना का स्वर प्रमुख है। तेलुगु में वेंकटरायषास्त्री (प्रताप रुद्रियम), कोलाचलम श्रीनिवास राव (रामानुज चरित्र), श्रीपाद कृष्णमूर्ति षास्त्री (बोब्लिलि युद्धम), यज्ञनारायण षास्त्री (रसपुत्र विजयम) आदि नाम उल्लेखनीय हैं। तमिल, मलयालम, मराठी और हिंदी में भी ऐतिहासिक कथानकों को आधार बनाकर नाटक लिखे गये। बाद में दौर में अतीत का गौरवगान करते हुए हिंदी में जयशंकर प्रसाद, हरिकृष्ण प्रेमी, गुजराती में के. एम. मुंशी, उमाशंकर जोषी, मलयालम में कृष्ण पिल्ले ने राष्ट्रीय भावनाओं पर आधारित नाटक लिखे।

राष्ट्रीय भावना और तत्कालीन यथार्थ को नाटकों का विषय बनाने का प्रयत्न भी हमें आरंभ से ही देखने को मिलता है। इस दृष्टि से पहला महत्वपूर्ण बंगला में लिखा गया था। दीनबंधु मित्र ने अंग्रेजी साम्राज्यवाद के षोषण के प्रखर रूप नील की जबरन खेती को आधार बनाकर नील दर्पण नाम से नाटक लिखा था जो राष्ट्रीय चेतना के एक नये उभार का संकेत दे रहा था। यह नाटक काफी लोकप्रिय भी हुआ। असमिया भाषा में पद्मनाथ गोहाई बरुआ की लोचि बरफुकन, लक्ष्मीकांत बेजबरुआ का चक्रध्वज सिंह और बिमलानंद बरुआ रचित षार्ई घाट राष्ट्रीय चेतना के प्रसिद्ध नाटक हैं। तमिल नाटकों द्वारा राष्ट्रीय भावना जाग्रत करने का श्रेय पावलर को है जिन्होंने खदरिन बेद्री देशीय कोटि आदि नाटक लिखे। मलयालम में वी.टी. भट्टतिरिप्पाद, के. दामोदरन, गोविंदन, इट्टषेरि, एस. एल. पुरम, के.टी. मुहम्मद आदि के नाम लिए जा सकते हैं। हिंदी में भारतेंदु ने भारत दुर्दशा भारत जननी, अंधेर नगरी प्रहसनों के द्वारा राष्ट्रीय भावना को अभिव्यक्ति दी जिसका चरम उत्कर्ष हमें जयशंकर प्रसार के नाटकों में मिलता है।

उन्नीसवीं सदी के भारतीय बुद्धिजीवियों ने यह बात समझ ली थी कि भारत की दुर्दशा का कारण सिर्फ विदेशी दासत्व ही नहीं है बल्कि सामाजिक कुरीतियां और धार्मिक अंधविश्वास भी है। इसलिए इस दौर के नाटककारों ने इन विषयों पर भी नाटक लिखे। उन्होंने उन भारतीयों को भी अपने व्यंग्य का निषाना बनाया जो भारतीय समाज में सुधार लाने के बजाए पश्चिम के अधानुकरण को ही श्रेयस्कर समझते थे। इस दौर के नाटककारों ने दहेज, बाल विवाह, जाति प्रथा, झूठी मान-मर्यादा, विधवा विवाह विरोध, वेष्ठावृत्ति, छुआछूत, अनमेल विवाह आदि कई सामाजिक कुरीतियों पर तीखा प्रहार किया। बंगला में माइकेल मधुसूदन दत्त, हिंदी में भारतेंदु, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, असमिया में हेमचंद्र बरुआ, गुनभिराम बरुआ, तेलुगु में के. नारायण राव, कन्नड़ में कैलासन, ए. एन. मूर्तिराव, के. क्षीरसागर और श्रीरंग, तमिल में एस. डी. सुंदरम, कृष्णमूर्ति नीलकंठ, मलयालम में वी.टी. भट्टतिरिप्पाद, एम.

भट्टतिरिप्पाद, के. दामादरन, गुजराती में रणछोड़ भाई उदयराम, उमाषंकर जोषी, गुलाबदास ब्रोकर, सिंधी में खानचंद दरयानी, एम. यू. मल्कानी आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में नाट्य लेखन में काफी प्रौढ़ता आ गई थी और अब नाटक आदर्शवाद के मोहजाल से निकलकर यथार्थ की भूमि पर स्थित होने लगे थे। इंसन के समस्यामूलक नाटकों का प्रभाव बढ़न लगा। इसके फलस्वरूप नाटकों में सामाजिक समस्याओं को व्यक्तिगत समस्याओं से जोड़कर देखा जाने लगा। घटनाओं पर ही बल देने की बजाय पात्रों के पारस्परिक संघर्ष और उनके अंतर्द्वंद्व पर भी ध्यान केंद्रित किया जाने लगा। इसका यह नतीजा भी निकला कि नाटकों में रोजमर्रा के जीवन की घटनाओं को विषय बनाया जाने लगा। इन सबका परिणाम नाटकों की रंगमंच प्रस्तुति पर भी पड़ा। इससे पूर्व के नाटक यद्यपि साहित्यिक दृष्टि से उत्कृष्ट होने लगे थे परंतु मंचन की दृष्टि से बहुत कम नाटक खरे उतर पाते थे। दूसरी ओर पारसी थियेटर आदि व्यावसायिक थियेटरों के लिए लिखे जाने वाले नाटक मंचन के लिए तो उपयुक्त थे परंतु उनमें से बहुत कम नाटक ही कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट कहे जा सकते थे। लेकिन अब साहित्यिक नाटक और रंगमंच के बीच की दूरी कम होने लगी थी।

इस दौर में लिखे गये नाटकों में विषय का ही विस्तार नहीं हुआ वरन् उनमें गहरी मानवीय दृष्टि का भी समावेश हुआ। पी.बी. राजमन्नार के नाटक तप्पेवरिदि (दोष किसका) जिसका कथानक प्रेमचंद के उपन्यास निर्मलासे मिलत-जुलता है, में अनमेल विवाह की समस्या के माध्यम से स्त्री-पुरुष संबंध की सूक्ष्म पड़ताल की गई है। तेलुगु में पी. श्रीराममूर्ति, के. गोपालराम शर्मा, असमिया में प्रणीण फुकन, पारदा वरदते, कन्नड़ में लंकेश, मलयालम में एन. कृष्णापिल्लै, के. सुरेंद्रन, जी. शंकरपिल्लै, सी. श्रीकंठन, मराठी में मामा वरेरकर, आचार्य अत्रे, मो. ग. रांगणेकर, गुजराती में चंद्रवदन मेहता, जयंती दलाल, गजेंद्र शंकर लाल शंकर पंडया, हिंदी में जयशंकर प्रसार (ध्रुवस्वामिनी) तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेंद्रनाथ अष्क के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस पूरे दौर में (यानी स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व) कुछ ऐसे लेखक भी थे जिनके नाटक उपर्युक्त श्रेणियों में नहीं आ पाते। उदाहरण के लिए, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कई नाटक प्रतीकात्मक नाटकों की श्रेणी में आते हैं। उन्होंने गीति नाट्य और नृत्य नाटकों (बैले) का भी सृजन किया है। रवींद्र के नाटकों के उल्लेख के बिना भारतीय नाटकों का इतिहास अधूरा ही कहा जाएगा।

स्वातन्त्रयोत्तर भारतीय नाटक

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय नाटक के कथ्य और शिल्प दोनों में बदलाव आया। दूसरे महायुद्ध और देश के विभाजन ने भारतीय समाज को गहरे तक प्रभावित किया। आजादी के दौर में लोग जिन सुखद परिवर्तनों की आकांक्षा पाले हुए थे, वह आजादी के बाद जल्दी ही झूठे साबित हुए। एक ओर आम आदमी की तकलीफें बढ़ी तो दूसरी ओर एक ऐसा वर्ग शक्तिशाली बनकर उभरा जिसके लिए सर्वथलिपस से बढ़कर कोई मूल्य नहीं था। विज्ञान और उद्योगीकरण के कारण भारतीय समाज में तेजी से परिवर्तन हो रहा था, इसने भी लोगों के जीवन मूल्यों को प्रभावित किया। जाहिर था कि इन सबका प्रभाव नाटकों की रचना में भी व्यक्त होता, और वह हुआ भी।

पहला परिवर्तन तो यह हुआ कि अब भारत के लिए केवल अंग्रेजी साहित्य ही नहीं वरन् अन्य भाषाओं का साहित्य भी मौजूद था। जर्मनी के ब्रेख्त, रूस के गोगोल और चेखव, फ्रांस के ज्यां पॉल सार्त्र के नाटकों से भारतीय परिचित हो रहे थे। इनका प्रभाव नाट्य लेखन और रंगमंच दोनों पर दिखाई दे रहा था। बंगला में बादल सरकार, मराठी में विजय तेंदुलकर, कन्नड़ में गिरीष कर्नाड पर इस प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है। नाटकों में अब नये-नये प्रयोग होने लगे थे। पांच अंकों के नाटक, जिसके प्रत्येक अंक में कई-कई दृश्य होते थे, उनकी संख्या पहले तीन और बाद में घटकर एक तक हो गई और एक अंक में भी बार-बार दृश्य परिवर्तन से दर्शकों का रस भंग होता था, इस बात को दृष्टि में रखकर दृश्यों को लगभग समाप्त ही कर दिया गया।

स्वतंत्रता प्राप्ति से लिखे गये ऐतिहासिक नाटकों का उद्देश्य राष्ट्रीय गौरव की अभिव्यक्ति होता था परंतु इस दौर में लिखे गये ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास को नई दृष्टि से देखने, जांचने और समझने की कोषिष निहित थी। इस दृष्टि से असमिया में उत्तर बरुआ का नाटक वर्जा फुलेषरी, कन्नड में पी. लंकेश का संक्राति, गिरीष कर्नाड का तुगलक, उड़िया में विजय कुमार मिश्र का तट निरंजन, हिंदी में धर्मवीर भारती का अंधा युग, मोहन राकेश का आषाढ का एक दिन, जगदीष चंद्र माथुर का पहला राजा और पंजाबी में संतसिंह सेखों का मोहूँ सार ने कोई उल्लेखनी नाटक कहे जा सकते हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के काल में पौराणिक प्रसंगों का भी मनुष्य की जटिल मनोभावनाओं और अंतर्द्वंद्वों के चित्रण के लिए इस्तेमाल किया गया। मानव मूल्यों में होने वाले परिवर्तन किस तरह प्रभावित करते हैं, इसको नाटककारों ने पौराणिक प्रसंगों पर आधारित नाटकों द्वारा प्रस्तुत किया। बंगला में बुद्धदेव बसु ने काल संध्या और प्रथम पार्थ, गिरीषी कर्नाड ने कन्नड में ययाति, मलयालम में सी. एन. श्रीकंठन, संत सिंह सेखों ने अहिल्या के जीवन पर कलाकार हिंदी में धर्मवीर भारती ने अंधायुग और सुरेंद्र वर्मा ने द्रोपदी नाटक लिखे।

इस दौर में सामाजिक समस्याओं पर आधारित नाटकों का लेखन भी अनवरत जारी रहा। यह अवष्य है कि अब भी कई पुरानी समस्याएं विद्यमान थीं तो दूसरी ओर कई नई समस्याएं और उभर आइ थीं। इनमें आर्थिक विषमता और उससे उत्पन्न आक्रोष, समाज में नारी की दयनीय स्थिति, दलित और उत्पीड़ित समाज की वेदना, हिंदु-मुस्लिम संबंध, ग्रामीण जीवन के कष्ट, शहरी जीवन की अमानवीयता, मध्यवर्ग का दिखावा, नये और पुराने मूल्यों का संघर्ष आदि कई विषयों को नाटक की कथावस्तु के रूप में अपनाया। इस दृष्टि से यद्यपि दसियों उल्लेखनीय नाटक सभी भारतीय भाषाओं में लिखे गये लेकिन जिन कुछ नाटकों को इस दृष्टि से उल्लेखनीय माना जा सकता है, वे हैं : हिंदी में मोहन राकेश का आधे अधूरे, उपेंद्रनाथ अष्क आ अंजो दीदी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का बकरी, मुद्राराक्षस का तिलचट्टा, ज्ञानदेव अग्निहोत्री का षतुरमुर्ग, पंकर रोष का एक और द्रोणाचार्य, मराठी में विजय तेंदुलकर के खामोष, अदालत जाती है, घासीराम कोतवाल, सखाराम बाइंडर, गिद्ध, बंगला में बाद सरकार का एवम् इंद्रजीत, बाकी इतिहास, पगला घोड़ा, उत्पल दत्त का टीन की तलवार, मोहित चटर्जी का गिनपिग, उड़िया में जगन्नाथ प्रसाद दास का सूर्यास्त, असमिया में अमर पाठक का इंटरव्यू, मलयालम में सदानंदन का "अग्निपुत्री, सिंधी में रामपंजवान का आयो नओ जमानो, तेलुगु में आचार्य अत्रे का एन.जी. ओ., वेंकटेश्वर राव का पाडि पंढ, बंगला में मनोज मित्र का चाको भांगा मधु आदि। नाटकों के लेखन में कई नये प्रयोग भी इस दौरान किए गए जिनमें लोक नाट्य, एक्सर्ड नाटक, नुक्कड़ नाटक, रेडियो नाटक आदि की चर्चा की जा सकती है। आगे नाट्य की विभिन्न शैलियों के अंतर्गत इनका परिचय प्रस्तुत करेंगे।

बोध प्रश्न 2

- 1) सही कथन के आगे सही का चिह्न लगाइए और गलत के आगे का चिह्न लगाइए।
 - क) संस्कृत के नाटक प्रायः दुखांत होते हैं।
 - ख) भवभूति ने राम का चरित्र आदर्षवादी राजा के रूप में प्रस्तुत किया है।
 - ग) संस्कृत नाटकों में पुरुषार्थ और भाग्य के संघर्ष का चित्रण मिलता है।
 - घ) शूद्रक का "मृच्छकटिकम्" अभिजातवादी रूमानी नाटक है।
 - ड.) संस्कृत नाटकों की आज कोई प्रासंगिकता नहीं रह गई है।
- 2) लोक नाट्य रूपों में विषयवस्तु के स्रोत कौन-कौन से रहे हैं?

3) आधुनिक नाटकों की शुरुआत में किन विषयों पर अधिक नाटक लिखे गये?

4) स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के दौर में ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों के कथ्य में परिवर्तन के पीछे क्या दृष्टि रही है?

5) निम्नलिखित नाटककारों के आगे उल्लिखित भाषाओं और कृतियासं के नाम ऊप-नीचे मुद्रित हो गए हैं आप इन्हें सही क्रम में लिखिए।

नाटककार का नाम	भाषा	नाटक
क) धर्मवीर भारती	पंजाबी	सक्रांति
ख) पी. लंकेष	मराठी	कलाकार
ग) बादल सरकार	हिंदी	अंधायुग
घ) विजय तेंदुलकर	कन्नड़	एवम् इंद्रजीत
ड.) संत सिंह सेखों	बंगला	घासीराम कोतवाल

12.4 आधुनिक भारतीय रंगमंच

आधुनिक भारतीय रंगमंच की शुरुआत जैसा कि पहले बताया गया है कि कलकत्ता में सन् 1765 में रूसी मूल के लेवेदेफ के द्वारा हुई थी। भारत के दूसरे महत्वपूर्ण महानगर मुंबई में पहला थियेटर लगभग ग्यारह वर्ष बाद 1776 ई. में शुरू हुआ। धीरे-धीरे नाटकों के प्रति अभिरुचि बढ़ने के कारण और कई जगहों पर थियेटर्स की स्थापना हुई। कई थियेट्रिकल कंपनियां स्थापित की गई जिन्होंने शहर-शहर में जाकर नाटकों का मंचन प्रस्तुत किया और नाटकों को एक लोकप्रिय कला माध्यम के रूप में पहचान दी। इस तरह की थियेट्रिकल कंपनियों में पारसी थियेटर के नाम से जानी जाने वाली कंपनियां विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पारसी थियेटर के अलावा इस दौर में परंपरागत लोक रंगमंच को भी विकसित होने का मौका मिला। इस रंगमंच ने पाश्चात्य किस्म के रंगमंच को भी प्रभावित किया। पाश्चात्य पैली का अभिजात्य रंगमंच प्रायः बड़े शहरों और शिक्षित व व संपन्न दर्शकों तक ही सीमित था जिसमें इस वर्ग की अभिरुचि के अनुरूप ही नाटक खेले जाते थे। प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना (1936) के बाद उससे जुड़े लेखकों-कलाकारों के प्रयास से एक नाट्य संस्था "इंडियन पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन" (भारतीय जन नाट्य संघ) की स्थापना हुई जिसने जन रंगमंच के अभाव को पूरा किया। इस भाग में आप आधुनिक भारतीय रंगमंच के इन विभिन्न रूपों का परिचय प्राप्त करेंगे।

12.4.1 पारसी रंगमंच

फारस से भारत के पश्चिमी समुद्र तटीय क्षेत्रों में आकर बसने वाले लोगों को पारसी के नाम से जाना गया। यह एक व्यापारी समुदाय है जिसने ब्रिटिश शासन काल के दौरान व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में तेजी से उन्नति की। बम्बई प्रेसीडेंसी इस समुदाय का मुख्य गतिविधि केंद्र था। 1776 ई. में जब बंबई थियेटर की स्थापना हुई थी तब उसमें केवल अंग्रेजी नाटक ही खेले जाते थे और ईस्ट इंडिया कम्पनी

के अंग्रेज सैनिक और अफसर ही उन्हें देखने जाया करते थे। यह थियेटर 1818 ई. में मरम्मत के लिए बंद कर दिया गया परंतु 1819 ई. की पहली जनवरी से यह पुनः पुरु हुआ। इसी थियेटर को 1835 में सर जमशेदजी जीजी भाई ने पचास हजार रुपये में खरीद लिया, लेकिन थियेटर बंद कर दिया गया। 1846 में बंबई के मषहूर व्यापारी जगन्नाथ षंकर सेठ ने बंबई के ग्रांट रोड पर ग्रांट रोड थियेटर के नाम से नये थियेटर की पुरुआत की। पुरु में यहां भी अंग्रेजी में नाटक खेले गये परंतु जल्दी ही यहां गुजराती, मराठी और हिंदी-उर्दू में नाटक खेले जाने लगे।

बंबई थियेटर पर लंदन के ड्रूरी लेन (Drury Lane) थियेटर का प्रभाव था। उसके ड्रेस बाक्सों के चारों ओर विस्तृत दीर्घा थी। ड्रेस बाँक्सों में 75 व्यक्तियों के बैठने की जगह थी। "पिट" में 65 दर्षक बैठ सकते थे और गैलरी में 200 दर्षक। इस प्रकार पूरे प्रेक्षागृह में 337 दर्षक आसानी से बैठ सकते थे।

ग्रांट रोड थियेटर पुरु के लगभग दस साल तक मुष्किलों के बीच चला। बंबई थियेटर की तरह उसे सरकार का संरक्षण भी प्राप्त हुआ। जब ग्रांट रोड थियेटर पर अफसरों और संभ्रात परिवार के लोगों का आगमन बंद हो गया तो यहां नाविक, सिपाही और छोटे-मोटे व्यापारी आने लगे। किसी तरह का डर न रहने के कारण ये लोग नाटक के दौरान हो हल्ला मचाते, तरह-तरह की आवाजें करते और कभी-कभी उनमें लड़ाई-झगड़ा भी हो जाता। यही दर्षक मंडली आगे चलकर पारसी थियेटर को विरासत में मिली और बाद में पापुलर सिनेमा को भी।

आरंभ में थियेटर की दरें उस समय को देखते हुए बहुत ज्यादा थी। अंग्रेजी नाटकों के समय ड्रेस बाक्स की दर 8 रुपये और गैलरी की तीन रुपये होती थी। सन् 1821 में पहली बार भारतीयों को थियेटर देखने का मौका मिला। 1853 तक ग्रांट रोड थियेटर पर अंग्रेजी नाटक ही खेले जाते रहे परंतु जब यहां हिंदुस्तानी दर्षकों की संख्या बढ़ने लगी तो नाटक भी हिंदुस्तान की भाषाओं में खेले जाने लगे। इसी दौरान बंबई में "पारसी ड्रामेटिक कोर" का जन्म हुआ जिसने ग्रांट रोड थियेटर में रुस्तक जबोली और सोहराब नाम से गुजराती नाटक प्रस्तुत किया। इसकी कथा फिरदौसी के षाहनामा से ली गई थी। 1853 में ही दो और नाटक खेले गये थे। इसके बाद तो पारसी थियेटर के नाम से हिंदुस्तानी भाषाओं में नाटकों का सिलसिला चल निकला। 6 मई 1854 को तीखे खां नाम से एक प्रहसन खेला गया जिसकी भाषा हिंदुस्तानी थी। इस प्रकार पारसी थियेटर का आरंभ गुजराती नाटकों से हुआ। परंतु साथ में हिंदी-उर्दू में प्रहसन भी मंचित किये जाने लगे। ये आरंभिक नाटक अब लिखित रूप में नहीं मिलते

पारसी थियेटर में काम करने वाले अभिनेता आरंभ में ज्यादातर पारसी ही थे। वे अपने नाटकों के विज्ञापन देते थे, जिन्हें देखकर लोग नाटक देखने आते थे। सन् 1853 में एक और पारसी नाटक मंडली की स्थापना हुई जिसके संस्थापक पेस्तनजी घनजी भाई मास्टर थे। वे इस मंडली में अभिनय भी करते थे। एक और नाटक मंडली पारसी थियेट्रिकल कमेटी के नाम से थी। पारसी थियेटर की टिकट दरें अंग्रेजी नाटकों की तुलना में काफी कम थी। ड्रेस सर्किल की तीन रुपये और पिट की एक रुपया। बाद में ड्रेस सर्किल की दर तीन से ढाई कर दी गई।

पारसी नाटक मंडली के प्रमुख नाटककार वामनजी कावसजी तथा जहांगी नषेरवाजी पटेल थे। वामनजी कावसजी ने अनेक नाटक लिखे जिनमें भोली गुल, बागे बहिष्त, वापना श्राप, नूरे नेकी, वफा पर जफा, देलजंग दिलेर आदि उल्लेखनीय हैं। जहांगीत नषेरवानजी पटेल का हास्य नाटक फाकड़ो फीतुरी काफी लोकप्रिय नाटक था।

सन् 1867 में विक्टोरिया नाटक मंडली की स्थापना हुई। बंबई में कई पारसी नाटक मंडलियां 1890 से पूर्व सक्रिय थीं। इनमें से कुछ व्यावसायिक थीं तो कुछ अव्यावसायिक। नाटकों का अधिनय पर्याप्त रिहर्सलों के बाद किसी निर्देषक की देखरेख में होता था।

पारसी थियेटर की बढ़ती लोकप्रियता के साथ नाटक खेलने के लिए बंबई में कई प्रेक्षागृह निर्मित हुए जिनमें इरॉस थियेटर, एडवर्ड थियेटर, एम्पायर थियेटर, एलफिस्टन थियेटर, एस्प्लेनेड थियेटर, ऑरिजिनल थियेटर, नॉवेल्टी थियेटर, रॉयल ऑपेरा हाउस, विक्टोरिया थियेटर, हिंदी नाट्य षाला आदि प्रसिद्ध हैं। 1930 के बाद इनमें से कई थियेटर सिनेमाघरों में तब्दील कर दिये गये।

पारसी थियेटरों ने कई नाटककार भी दिये यद्यपि इनमें सच्चे प्रतिभावान नाटककार कम थे लेकिन भारत में नाट्य लेखन के आरंभिक प्रयासों में उनके योगदान को नहीं भुलाया जा सकता। पारसी थियेटरों के लिए आरंभ में ज्यादातर पारसी नाटककार ही सामने आए जिनमें कावसजी कैखुसरो नवरोजजी बेजन मनीजेह, जमषेद, फरेदून, लवकुष, नंदबत्रीसी, एदलजी मजषेदजी खोरी रुस्तम अने सोहराब, हजमवाद अने ठगनवाद, खेदाबख्श, नरजेहान, जालम जोर नानाभाई रुस्तमजी राणीना करणी तेवी पार उतरणी, काला मेंठ होमलो हाउ, सती सावित्री, नाजां षारीन हीरजी खंबाता "आबे इक्लीस", जहांगीर खंबाता, खुदादार (उर्दू), जुद्दीन झगडों, मेड हाउस, धरती कंप, मेरवानजी नसरवान जी वाडिया सनतो निगहबान खुदा, हनीमून आदि प्रसिद्ध थे। इन्होंने गुजराती भाषा में ही अधिकांश नाटक लिखे जिनके हिंदुस्तानी अनुवाद भी मंचित हुए।

पारसी नाटक मंडलियों के लिए उर्दू-हिंदी में नाटक लिखने वाले नाटककारों में अब्बास अली अब्बास (नैरंगे सितम, जंजीरे गौहर, नैरंगनाज, दुखिया दुल्हन, षमषीर इस्लाम, एक ही पैसा), मोहम्मद इब्राहीम अम्बालवी "मषहर" (दुष्मने ईमान, जोषे तौहीद, गुनहगार बाप, गरीब हिंदुस्तान), महमूद मियां बनारसी "रौनक" (बेनजीर बदरेमुनीर, लैला मजनूं पूरन भगत, फसाने अजायम), हुसैन मियां जरीफ (गुल सनोवर, खुदा दोस्त, इषरत सभा), मंषी विनायक प्रसाद "तालिब" (लैले निहार, नल दमयंती, फसाने अजायब, गोपी चंद, हरिष्चंद्र, विक्रमविलास, अल्लादी), नारायण प्रसार "बेताब" (हुस्ने फरंग, कत्ले नजीर, महाभारत, रामायण, पत्नी प्रलाप), आगा मुहम्मद षाह काष्मीरी "हश्र" आफताबे मुहब्बत, खूने नाहक, दामे हुस्न, षहीदे नाज, अछूता दामन, मधुर मुरली, भगीरथ गंगा, हिन्दुस्तान, तुर्की हूर, आंख का नषा, मेहदी हसन "अहसन" (जहरे-इष्का, चंद्रावली, खूने नाहक, चलता पूजा), राधोष्याम कथावाचक (अभिमन्यु) आदि के नाम आते हैं। इनमें मेहदी हसन, नारायण प्रसाद "बेताब", आगा "हश्र" काष्मीरी और विनायक प्रसाद "तालिब" के नाटक निष्चय ही उत्कृष्ट कोटि के कहे जा सकते हैं।

पारसी थियेटर की जिन नाटक मंडलियों का ऊपर उल्लेख किया गया है उनके अलावा जारोस्त्रियन थियेट्रिकल क्लब (1866), एम्प्रेस विक्टोरिया नाटक मंडली (1876), कोरोथियन थियेटर आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अलावा कराची, जोधपुर, आगरा, अलीगढ़, हैदराबाद, मेरठ, लखनऊ और लाहौर में पारसी थियेटर की तरह की नाटक मंडलियां थी जिन्होंने व्यावसायिक और अब्यासवसायिक नाटकों का मंचन किया।

पारसी थियेटर में आरंभ में फारस (ईरान) की कथाओं को नाटक का विषय बनाया गया था लेकिन जब हिंदू-मुसलमान दर्षकों की संख्या बढ़ने लगी तो हिंदू-मुस्लिम इतिहास और परंपरा से भी कथानक लिए जाने लगे। पारसी थियेटर के नाटकों में ऐतिहासिक, पौराणिक विषयों का बोलबाला था और उन्हें प्रायः रुमानी एवं मेलोड्रामाई रूप में प्रस्तुत किया जाता था। यद्यपि कुछ हद तक एजियासबेथीय थियेटर का भी प्रभाव व्यक्त होता था। इसका प्रमाण यह है कि पारसी थियेटर में षेक्सपीयर के नाटकों के भारतीय रूपांतरण लगातार प्रस्तुत होते रहे। पारसी नाटकों का संगीत आमतौर पर षास्त्रीय संगीत ही था, विशेष रूप से ठुमरी, दादरा, झिंझोटी, आदि का प्रयोग होता था। कहीं-कहीं अंग्रेजी प्रभाव भी झलक जाता था। पारसी थियेटर में काव्य का स्तर आमतौर पर बाजारू होता था। बहुत कम ही नाटकों में भावमय, मर्मस्पर्षी कविता सुनने को मिलती थी।

शुरू में पारसी नाटकों में संगीत नहीं होता था। संवाद गद्य में ही होते थे। दादी पटेल (प्रसिद्ध पारसी अभिनेता और निर्देशक के बेनजीर बदरे मुनीर में ओपेरा की षुरुआत हुई और उसके बाद तो पारसी

थियेटर में गानों की कुछ ज्यादा ही धूम मच गई। पारसी थियेटर के संगीतकारों में नषरवानजी आबख्यार, अल्लादिया मेहरबान, मास्टर झंडेखं और मास्टर लाल प्रसिद्ध थे।

पारसी थियेटर के संदर्भ में इंदर सभा का उल्लेख करना आवश्यक है। इंदर सभा के लेखक सैयद आगा हसन थे जो अमानत उपनाम से लिखते थे। इसकी रचना उन्होंने 1853 में की थी और पारसी थियेटर के नाटकों पर इसका जबर्दस्त प्रभाव पड़ा था। पारसी थियेटर पर षोधपूर्ण कार्य करने वाले विद्वान सोमनाथ गुप्त ने ऐसी कई रचनाओं का उल्लेख किया है जो इंदर सभा से प्रभावित होकर रची गई थी। उसके प्रभाव पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है इंदर सभा अपने समय में ही इतनी ख्याति प्राप्त कर चुकी थी कि उसकी कल्पना करना भी सुगम नहीं है। उसका अनुवाद देश-विदेश की भाषाओं में हुआ। उसके गाने और उनकी तर्जे गाने वालों की जिह्वा पर रहने लगीं। विस्मृत शास्त्रीय संगीत को उसके द्वारा संजीवनी मिल गई। श्रीलंका में उसका प्रभाव सिंहली भाषा में नाटकों में पाया जाता है। यहां तक उसका प्रभाव पड़ा कि कुछ नाटक कंपनियों के नाटकों में मूल नाटक के पहिले इंदर सभा का कुछ न कुछ अंश दिखाया जाता था जिससे कि दर्षक आकृष्ट हो सकें। अपने विस्तृत प्रभाव में देव, परी, इंदर और षाहजादों के रूमानी किस्से और उनका नाटकीय प्रदर्षन ही इंदर सभा के नाम से मषहूर हो गया।" (पारसी थियेटर, पृ. 229)।

इंदर सभा और उससे प्रभावित नाटकों की विषेषता यह थी कि वे सभी कविताबद्ध नाटक हैं जिनमें विभिन्न छंदों और राग-रागिनियों का समावेश किया गया था। नाटकों की भाषा उर्दू मिश्रित हिंदी होती थी। सारे नाटकों का कथानक एक ही ढांचे में ढला होता था। कोई परी किसी मानव पर आसक्त हो जाती यास मानव परी पर। फिर कुछ बाधाओं के बाद इनका मिलन हो जाता। सारे नाटक तिलस्म और जादूपरक परिवेष से भरे होते थे। इनसे नाटक में चमत्कार पैदा होता था जो दर्षकों को चमतकृत करता था। पारसी थियेटर के नाटकों पर इंदर सभा का प्रभाव वहीं तक सीमित नहीं रहा, लोकप्रिय सिनेमा आज भी काफी हद तक इसी इंदर सभा का विस्तार नजर आता है। 1939 में सवाक् सिनेमा के आगमन के साथ पारसी थियेटर की उपयोगिता खत्म हो गई।

12.4.2 अभिजात्य रंगमंच

अंग्रेजों के द्वारा आधुनिक रंगमंच की षुरुआत किए जाने के बाद रंगमंच का विकास अलग-अलग दिषाओं में हुआ। निम्न मध्यवर्ग के दर्षकों के बीच विकसित होने वाला रंगमंच पारसी रंगमंच के नाम से जाना गया जिसमें पेष किए जाने वाले नाटकों का आदर्ष अमानत की इंदर सभा और पौराणिक कथाएं थी। जबकि ग्रामीण दर्षक वर्ग के बीच अभी भी परंपरागत लोक नाट्य षैलियां ही लोकप्रिय थीं जिनमें रामलीला, रासलीला, नौटंकी, यक्षगान, कठपुतली, जात्रा अपने-अपने क्षेत्रों में विषेष रूप से प्रचलित थे। इसके साथ ही यह भी समझना जरूरी था कि सैकड़ों सालों से प्रचलित ये लोक नाट्य अपने समय के बदलाव से पूरी तरह अछूते भी नहीं थे। नौटंकी का रूप काफी हद तक पारसी थियेटर के नाटकों सा था, तो दूसरी ओर रामलीला का वह स्वरूप काफी बदल गया था जिसे भक्ति आंदोलन ने निर्मित किया था।

इन दोनों नाट्य रूपों से अलग एक और रंगमंच साथ-साथ ही विकसित होने लगा था। समाज का षिक्षित समुदाय जिन्हें अंग्रेजी षिक्षा के कारण पश्चिम के नाटकों को पढ़ने का मौका मिला था और अंग्रेजों द्वारा स्थापित थियेटर को देखने का अवसर भी मिला था, उसे न तो पारसी थियेटर से संतोष था और न ही इंगलिष थियेटर से। इसी वर्ग ने उस थियेटर की नींव डाली जिसे हम सुविधा के लिए अभिजात्य रंगमंच की संज्ञा दे सकते हैं। इस तरह के रंगमंच की षुरुआत सबसे पहल कलकत्ता में हुई। हम इस बात की चर्चा कर चुके हैं कि लेवदेफ (1765) के प्रयास से बंगाली थियेटर की षुरुआत हुई थी परंतु आम जनता इस इसका कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा। बीच के लगभग चार-पांच दषकों तक कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ। 1831 में प्रसन्न कुमार टैगोर ने हिंदू थियेटर की स्थापना की और उसमें षेक्सपीयर के अंग्रेजी नाटक और संस्कृत नाटकों में अंग्रेजी रूपांतरण प्रस्तुत किये गये। 1833 में

कलकत्ता में ही नवीनचंद्र बसु के घर पर एक और थियेटर की शुरुआत हुई और यहां हर साल चार-पांच बंगला नाटक खेले जाने लगे। 1835 में खेला गया विद्या सुंदरी नाटक काफी सफल रहा। पुरु के नाटकों में स्त्री चरित्र भी पुरुषों द्वारा ही खेले जाते थे। यह बात सिर्फ बंगाली थियेटर के लिए ही सत्य नहीं थी वरन् 19वीं सदी में कमोबेश सभी भाषाओं में खेले जाने वाले नाटकों में स्त्री चरित्र पुरुषों द्वारा ही अभिनीत किए जाते थे। एक और परंपरा जो पुरु में सभी जगह विद्यमान थी, वह यह थी कि खेले जाने वाले नाटक मुद्रित होकर प्रकाशित नहीं होते थे। पुरुआती दौर में रंगमंच पर खेले जाने वाले बंगला नाटक का साहित्यिक मूल्य कुछ भी नहीं था परंतु 1857 से बंगला नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में एक नये युग का आरंभ हुआ जब बंगला में पहले से प्रकाशित चार नाटक तीन अलग-अलग थियेटरों में खेले गये। बाद में और भी कई नाटक खेले जाते रहे। बंगला के प्रख्यात कवि माइकेल मधुसूदन दत्त ने जब अंग्रेजी नाटकों को देखा था तभी उनमें बंगला में उसी स्तर के नाटक लिखने की इच्छा जन्म ले चुकी थी। उनके द्वारा लिखा षर्मिष्ठा नाटक 3 सितंबर, 1859 को पहली बार खेला गया जो इससे पूर्व के नाटकों से काफी उच्च कोटि का था। इसके बाद माइकेल मधुसूदन दत्त ने कई कामेडी, त्रासदी और प्रहसन लिखे। मधुसूदन दत्त के नाटकों ने बंगला नाटकों का चरित्र पूरी तरह से बदल दिया और इसका प्रभाव बंगाली रंगमंच पर भी पड़ा। इसने अच्छे नाटकों के लिए लोगों में इच्छा जाग्रत की। इसी माहौल ने नील दर्पण जैसे नाटक की रचना संभव बनाई। दीनबंधु मित्र के नाटक नील दर्पण ने साम्राज्यवादी षोषण की दर्दनाक कहानी और गरीब किसानों के संघर्ष को विषय बनाया। नील दर्पण में नील की जबरन खेती को कथा का विषय बनाया गया था। एक अर्थ में यह उन जन नाट्य परंपरा की शुरुआत थी जो बाद में इप्ता द्वारा एक आंदोलन बनकर सामने आया।

बंगाल में जिस नये थियेटर की शुरुआत हुई, वह दूसरी भाषाओं में भी धीरे-धीरे अस्तित्व में आने लगा। हिंदी में भारतेंदु हरिश्चंद्र के प्रयत्नों से एक नाटक मंडली स्थापित हुई। स्वयं भारतेंदु ने इसके लिए न केवल नाटक लिखे बल्कि स्वयं अभिनय भी किया। कानपुर में रंगमंच की स्थापना के लिए प्रतापनारायण मिश्र ने प्रयास किया। इस तरह भारत के प्रमुख नगरों में शहरी मध्यवर्ग की अभिरुचियों को ध्यान में रखकर जो नाटक खेले गये, यही वह रंगमंच था जिससे भारतीय रंगमंच की दोनों धाराओं का विकास हुआ। एक धारा वह अभिजात्य, कलात्मक और प्रयोगशील रंगमंच की थी जिसने रंगमंच को एक स्तर प्रदान किया तो, दूसरी ओर, वह जनोन्मुखी रंगमंच भी विकसित हुआ जिसने भारतीय रंगमंच को सोददेष्टता प्रदान की। इन दोनों तरह के रंगमंच में कोई लक्ष्मण रेखा नहीं खींची हुई थी। बल्कि प्रेक्षागृहों में खेले जाने वाले नाटकों में कलात्मक उत्कृष्टता के साथ-साथ सामाजिक सोददेष्टता का भी अंकन बराबर होता रहा। इस प्रकार के नाटकों का प्राथमिक उद्देश्य निष्चय ही अर्थ लाभ और मनोरंजन नहीं था।

12.4.3 जनोन्मुखी रंगमंच (Peoples' theater)

छीनबुध मित्र के नाटक नील दर्पण, भारतेंदु के प्रहसन अंधेर नगरी, मधुसूदन दत्त के प्रहसन बूढ़े षालिके घरे रन, ऐसे आरंभिक नाटक थे जिसमें साम्राज्यवादी, सामंती षोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध जनता के संघर्ष को नाटकों का विषय बनाया गया था। 1930 तक एक ओर पारसी रंगमंच की तरह के व्यावसायिक नाटक लोकप्रिय थे तो दूसरी ओर पाश्चात्य शैली के रंगमंच पर पौराणिक एवं ऐतिहासिक विषयवस्तु पर आधारित राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत नाटक खेले जाते रहे। 1930 के बाद जब राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष में वामपंथी प्रभाव बढ़ने लगा और किसानों, मजदूरों और विद्यार्थियों के अखिल भारतीय संगठन अस्तित्व में आए तो इसकी अभिव्यक्ति साहित्य और कला के क्षेत्र में भी हुई। 1936 में प्रेमचंद की अध्यक्षता में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई और उसके सात साल बाद (1943) इंडियन पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन (इप्ता) का प्रथम सम्मेलन हुआ। इप्ता ने एक नये तरह के रंगमंच की शुरुआत की।

इस रंगमंच की पहली विशेषता तो यह थी कि इसने जनता के लिए रंगमंच का अखिल भारतीय आंदोलन शुरु किया। अभी तक जो भी रंगमंच थे, वे अपने भाषाई क्षेत्रों में सक्रिय थे और उनमें परस्पर कोई संबंध नहीं था। पारसी थियेटर ने नाटकों का उद्देश्य सिर्फ मनोरंजन और लाभ कमाना था।

हालांकि इन दोनों तरह के नाटकों पर तत्कालीन समय का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता था परंतु जनता को राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में भागीदार बनाने, साम्राज्यवाद और फासीवाद के हमले से संस्कृति की रक्षा करने, हर तरह के षोषण और उत्पीड़न से जनता को मुक्ति दिलाने, धार्मिक-सामाजिक रुढ़ियों के विरुद्ध जागृति पैदा करने तथा मनवीय सौंदर्याभिरुचि का संस्कार जगाने का महत्व कार्य इप्टा के द्वारा हुआ। 1943 के बाद इप्टा की शाखाएं सारे देश में स्थापित होने लगीं। इसने लगभग सभी भारतीय भाषाओं में ऐसे नाटकों को प्रोत्साहित किया जो जन समास्याओं को ध्यान में रखकर लिखे गये। इप्टा को यह भी श्रेय जाता है कि इसने कई महान् नाटककार, नाट्य निर्देशक, अभिनेता, संगीतकार और गायक दिये। अपनी पहली कान्फ्रेंस में ही इप्टा से मामा वरेरकर, मख्दुम मोहिउद्दीन, डॉ० राजा राव, षंभू मित्र, ख्वाजा अहमद अब्बास, अली सरदार जाफरी, सज्जाद जहीर आदि महान् लेखकों और रंगकर्मियों के नाम जुड़ गये थे। बाद में इप्टा से एम. वल्लतोल, हेमंत मुखर्जी, ज्योतिंद्र मिश्र, बलराज साहनी, उदयषंकर, पृथ्वी राज कपूर और षांता गांधी आदि कई और नाम जुड़े। इप्टा ने सिर्फ नाटक ही प्रस्तुत नहीं किए, बल्कि गीत, संगीत, नृत्य और फिल्म निर्माण के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। 1944 में प्रसिद्ध कलाकार उदयषंकर ने इप्टा के सहयोग से मजदूरों के सामने अपना रामलीला नामक छाया नाटक प्रस्तुत किया था।

इप्टा से जुड़े नाट्य और नृत्य मंडलियों ने देश के कोने-कोने में जाकर अपने कार्यक्रम प्रस्तुत किए। इप्टा का मुख्य कार्य क्षेत्र हालांकि बंगाल, आंध्र प्रदेश और केरल था परंतु उसकी गतिविधियां पंजाब, असम, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र आदि में भी थी। इप्टा ने क्षेत्रीय रंगमंच के प्रोत्साहन में भी काफी योगदान दिया। क्षेत्रीय रंगमंच ने लोक नाट्य षैलियों का प्रयोग नये नाट्य रूपों के विकास के लिए किया। इस प्रकार इप्टा को इस बात का श्रेय भी जाता है कि उसने भारतीय रंगमंच को न केवल जनोन्मुखी बनाया वरन् लोक नाट्य षैलियों की समृद्ध परंपरा को जन नाट्य के साथ जोड़कर आधुनिक भारतीय रंगमंच को नवीन स्वरूप प्रदान किया। इप्टा ने अपने नाटक प्रायः मजदूरों और किसानों के बीच खेले। वामपंथी और जनवादी आंदोलनों में भी इप्टा ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया और ऐसे राजनीतिक आंदोलनों के संदेश को जनता की बीच लोकप्रिय बनाने में मदद की। स्पष्ट ही इस प्रचारात्मक उद्देश्य ने कई बार नाटक के कलात्मक स्तर को क्षति भी पहुंचाई परंतु जन रंगमंच की प्राणशक्ति का यह मुख्य स्रोत भी था। कह सकते हैं कि इप्टा ने राजनीतिक रंगमंच को संभव बनाया।

इप्टा के जन नाट्य आंदोलन के प्रभाव में आंध्र प्रदेश में प्रजा नाट्य मंडली की स्थापना हुई जिसने क्षेत्रीय भाषा में लोक नाट्य षैलियों का उपयोग करते हुए नाटक प्रस्तुत किए। केरल में केरल पीपुल्स आर्ट्स क्लब ने मालाबार और उत्तरी ट्रावनकोर में किसान संगठनों के साथ मिलकर नाटक प्रस्तुत किए। असम में ज्योति प्रसाद अगरवाला और भूपेन हजारिका तथा उड़ीसा में के. पटनायक इप्टा से जुड़े थे।

इप्टा ने पचास के दशक में सिनेमा को भी प्रभावित किया। 1946 में ख्वाजा अहमद अब्बास के निर्देशन में बनी धरती के लाल, के सामूहिक प्रयासों का ही नतीजा थी। इप्टा से जुड़े बलराज साहनी (अभिनेता), रविषंकर (संगीतकार), कृष्णचंद्र (उर्दू लेखक), चेतन आनंद (अभिनेता, निर्देशक), पृथ्वीराज कपूर (जिनके थियेटर द्वारा प्रस्तुत पठान, किसान आदि नाटक इप्टा की ही परंपरा के नाटक थे) ने सिनेमा के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान दिया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के लगभग एक दशक तक इप्टा की गतिविधियां जारी रही परंतु प्रगतिशील लेखक संघ के 1953 में षिथिल पड़ने के बाद धीरे-धीरे इप्टा में भी षिथिलता आने लगी। इससे जुड़े कई मेधावी लेखक, रंगकर्मी, संगीतकार, गायक और अभिनेता सिनेमा से जुड़ गये और बाद में उनमें से अधिकांश ने रंगमंच से अपना रिष्ठा तोड़ लिया। इप्टा भले ही खत्म-सा हो गया हो परंतु जन रंगमंच की परंपरा खत्म नहीं हुई। 1970 के आसपास जब एक बार फिर जन आंदोलनों में तेजी आई तो नाटकों की ओर भी कलाकारों का ध्यान गया। इसने कई जन नाट्य संघों की स्थापना का मार्ग प्रषस्त किया। न केवल बंगाल और केरल वरन् उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, राजस्थान, दिल्ली, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक,

त्रिपुरा, पंजाब आदि राज्यों में ऐसे कई नाट्य संघ पुनः उभरे जिन्होंने जन आंदोलनों के साथ मिलकर जनोन्मुखी नाटक अभिनीति किये। एक बड़ा फर्क पचास के दशक के इप्टा और इनमें यह था कि इन्होंने नाटकों के मंचन की एक नई शैली नुक्कड़ नाटक को व्यापक पैमाने पर अपनाया। नाटकों की यह शैली काफी लोकप्रिय हुई। इसी तरह के एक नुक्कड़ नाटक हल्ला बोल का दिल्ली के पास की एक मजदूर बस्ती में प्रदर्शन के दौरान गुंडों के हमलों में प्रख्यात युवा रंगकर्मी सफदर हाषमी की हत्या कर दी गई थी। जन नाट्य मंडलियों पर निहित स्वार्थों के कातिलाना हमले कई और जगह भी हुए।

12.5 विभिन्न नाट्य शैलियां

आज भारतीय रंगमंच एक लम्बी यात्रा तय कर चुका है। एक ओर क्षेत्रीय भाषाओं का विकसित रंगमंच है तो दूसरी ओर कई नवीन नाट्य शैलियों का विकास हुआ है। पाष्वात्य, संस्कृत और लोक नाट्य शैलियों ने भारतीय रंगमंच के स्वरूप को निर्मित करने में मदद की है। एक ओर प्रेक्षागृहों में खेले जाने वाले नाटकों के लेखन और प्रदर्शन में तरह-तरह के प्रयोग हुए हैं तो दूसरी ओर जनता तक पहुंचने के लिए प्रेक्षागृहों के विकल्प की तलाश भी होती रही है। नाटकों के लेखन और प्रदर्शन को सिर्फ विभिन्न नाट्य शैलियों और नये प्रयोगों ने ही प्रभावित नहीं किया बल्कि रेडियो, सिनेमा और टेलीविजन ने भी प्रभावित किया है। यहां हम इन नाट्य शैलियों का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं।

12.5.1 पाष्वात्य नाट्य शैली

भारतीय रंगमंच के विकास में पश्चिम की नाट्य शैलियों का योगदान महत्वपूर्ण है। इस दृष्टि से आधुनिक भारतीय रंगमंच पर सर्वप्रथम एलिजाबेथीय थियेटर का प्रभाव पड़ा जिसने शेक्सपीयर के नाटक खेले। पुरु के दौर में जैसे बंबई थियेटर के नाटक एलिजाबेथीय शैली के प्रेक्षागृह में ही खेले जाते थे। इसमें दर्शक मंच के तीनों ओर बैठते थे। नाटक दिन में होता था। मंच में अभिनेय क्षेत्र काफी बड़ा होता था और प्लेटफार्म स्थायी होता था। एलिजाबेथीय थियेटर का प्रभाव पारसी रंगमंच पर भी था। बाद में यथार्थवादी रंगमंच का प्रभाव भारतीय रंगमंच पर दिखाई देता है। यथार्थवादी नाट्य शैली के साथ-साथ रंगमंच पश्चिम के कई कला संबंधी आंदोलनों से प्रभावित होता रहा। इनमें प्रतीकवाद, अभिव्यक्तिवाद, अतिप्रकृतवाद, विसंगतिवाद आदि प्रमुख हैं। नाट्य लेखन, प्रस्तुति और अभिनय को प्रभावित करने में स्तानिस्लावस्की, ब्रेख्त आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ब्रेख्त और स्तानिस्लावस्की की शैलियों को लेकर भारत में भी विचार विमर्ष होता रहा है। विसंगत (एब्सर्ड) नाटक शैली छठे दशक के बाद के भारतीय रंगमंच पर काफी हावी रही है। सेम्युअल बैकेट के नाटकों से प्रभावित होकर यहां भी ऐसे कई नाटक लिखे जाते रहे। जबकि ब्रेख्त का प्रभाव हम विशेष रूप से नुक्कड़ नाटकों पर देख सकते हैं।

12.5.2 संस्कृत नाट्य शैली

संस्कृत नाट्य परंपरा का प्रभाव आधुनिक भारतीय रंगमंच पर दो रूपों में दिखाई देता है। प्रथम तो इस रूप में कि संस्कृत के कुछ प्रख्यात नाटक भारतीय भाषाओं में अनूदित होकर खेले गये। जैसे अभिज्ञान शाकुंतल, विक्रमोर्वशीयम, मृच्छकटिकम, स्वप्नवासवदत्ता, मुद्राराक्षस, उत्तरराम चरित आदि नाटक बार-बार खेले गये। दूसरे इन नाटकों को या कुछ अन्य आधुनिक नाटकों के नाट्यशास्त्र में बताए रंगमंचीय नियमों के आधार पर प्रस्तुत करने के प्रयत्न भी हुए। जाहिर है इन प्रयत्नों में अधिक सफलता नहीं मिली। परंतु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि आधुनि भारतीय रंगमंच को प्रभावित करने में इस नाट्य शैली ने महत्वपूर्ण योगदान किया है।

12.5.3 लोक नाट्य शैलियां

परंपरागत लोक नाट्यों का प्रभाव संस्कृत शैली के मुकाबले में कहीं ज्यादा और जीवंत रूप में दिखाई देता है। नाट्य लेखन के क्षेत्र में इसके प्रभावों की चर्चा कर चुके हैं। परंपरागत नाट्य शैलियों आ आधुनिक भारतीय रंगमंच के विकास में सफलतापूर्वक प्रयोग ब. व. कारंत, जब्बार पटेल, सतीष आलेकर, रतनकुमार थियम, कावालम नारायण पणिककर, बंसी कौल, हबीब तनवीर, प्रसन्ना आदि की प्रस्तुति में

दिखाई देता है। ब. व. कारंत ने तो यक्षगान की पैली में मैकबेथ पर आधारित बरनम वन का सफलतापूर्वक मंचन किया है। पश्चिम के नाटकों को लोक नाट्य पैली में पस्तुत करने में विजया मेहता, अतिजेष बंधोपाध्याय, एम. के. रैना आदि के प्रयोग भी उल्लेखनीय हैं। अंत में, हम कह सकते हैं कि परंपरागत लोक नाट्य पैलियों में हमारे देश के लोक जीवन की विविधत और विषिष्टताओं को जीवंत रखा है। इन पैलियों में नाटक रचना और रंग क्रिया की ऐसी बहुत सी पद्धतियां, रुढ़ियां और मान्यताएं समाहित हैं जिनसे भारतीय रंगमंच कुछ-न-कुछ सीख सकता है।

12.5.4 अन्य नाट्य पैलियां

अन्य नाट्य पैलियों में एकांकी, रेडियो रूपक, ऑपेरा प्रमुख हैं।

एकांकी : एकांकी वस्तुतः कोई नाट्य पैली नहीं है वरन् नाटक का एक प्रकार है जो पूर्ण नाटक की तुलना में छोटा और एक अंक का होता है। एकांकी और पूर्ण नाटक में वही फर्क है जो कहानी और उपन्यास में दिखाई देता है। नाट्य लेखन के आरंभिक दौर से ही ऐसे प्रहसन लिखे जाते रहे जो पूर्ण नाटक की तुलना में छोटे होते थे। इन्हें आमतौर पर नाटक के आरंभ और मध्य में पस्तुत किया जाता था। पांचवे-छठे दशक तक इसतरह के नाटकों का लेखन और मंचन होता रहा परंतु रेडियो रूपक के अस्तित्व में आने के बाद इनका मंचन काफी हद तक कम हो गया। यद्यपि नुक्कड़ नाटक के क्षेत्र में ऐसे छोटे प्रहसनों की परम्परा विद्यमान रही। इसी प्रकार रेडियो पर पंद्रह-पंद्रह मिनट के हास्य रूपकों को काफी लोकप्रियता प्राप्त हुई। एकांकीकारों में प्रसिद्ध कुछ नाम हैं: सोमनाथ जुत्पी, सोमनाथ साधु, फारुक मसूदी (काष्मीरी), जगदीष चंद्र माथुर, लक्ष्मीनारायण लाल, उदयषंकर भट्ट (हिंदी), बसंत कुमार महापात्र, जदुनाथ दास महापात्र, कमललोचन मोहंती (उड़िया), बलवंत गार्गी, करतारसिंह दुग्गल (पंजाबी), मिर्जा कालिच बेग, एस. यू. मलकानी, मोती प्रकाश (सिंधी) आदि।

रेडियो रूपक : रेडियो के लोकप्रिय होने के साथ रेडियो पर भी नाटक प्रस्तुत किये जाने लगे। रेडियो पर केवल आवाज का ही प्रयोग संभव था। इसलिए नाटकों को ऐसा रूप दिया जाना आवश्यक था जो केवल सुना जाकर श्रोताओं को आनंद प्रदान कर सके। इस बात को ध्यान में रखकर विभिन्न भाषाओं में कई रेडियो रूपक लिखे गये एकांकी की तरह छोटे नाटक भी थे, तो पूर्ण नाटक की तरह के लंबे रेडियो नाटक भी थे। रेडियो रूपक लेखन के क्षेत्र में कुछ प्रमुख नाम हैं : यषोध मेहता, चुन्नीलाल भाटिया, सी.सी. मेहता, शिवकुमार जोषी (गुजराती), विष्णु प्रभाकर, रेवतीरमण शर्मा, चिरंजीत (हिंदी), एन. एन. शिवस्वामी (कन्नड़) पुष्कर भान, एस.एस. जुत्पी, हरिकृष्ण कौल (काष्मीरी), एस. के. नैय्यर, कुरा. पिल्लै (मलयालम), कुदकृष्ण (तेलुगु), कृष्णचंदर, मंटो (उर्दू)। भारत में सिनेमा और टेलीविजन ने नाटक और रंगमंच को विशेष रूप से प्रभावित किया है। सिनेमा ने जहां पारसी रंगमंच की उपयोगिता समाप्त कर दी वहां अच्छे रंगमंच को भी अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए अधिक सृजनात्मक और चुनौतीपूर्ण होने के लिए मजबूर किया। सिनेमा ने रंगमंच के सामने वैसा खतरा पैदा नहीं किया जैसा टेलीविजन ने किया है। इसने जहां रंगमंच से जुड़े रंगकर्मियों के लिए एक व्यापक, प्रभावकारी और आर्थिक दृष्टि से अधिक संपन्न माध्यम का विकल्प दे दिया है, वहीं थियेटर जाने वाले दर्शकों में भारी कमी का खतरा भी पैदा कर दिया है। निष्चय ही रंगमंच इनसे समाप्त नहीं हो जाएगा क्योंकि कोई नया कला माध्यम पुराने कला माध्यम की जरूरत को पूरी तरह नहीं मिला सकता। प्रत्येक कला माध्यम पुराने कला माध्यम की जरूरत को पूरी तरह नहीं मिटा सकता। प्रत्येक कला माध्यम एक खास तरह का "आस्वादन" प्रदान करता है और उसकी विषिष्टता उसे बनाए रखती है, भले ही उसका आस्वादन लेने वालों की संख्या कुछ कम हो जाए।

आधुनिक भारतीय रंगमंच के विकास में स्वतंत्रता से पूर्व सरकारी योगदान बहुत सीमित या नहीं के बराबर था परंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस दृष्टि से उल्लेखनीय बदलाव आया। रंगमंच के प्रोत्साहन के लिए कई संस्थाएं अस्तित्व में आईं। राष्ट्रीय स्तर पर संगीत नाटक अकादमी की स्थापना हुई तो राज्यों के स्तर पर भी ऐसी कई अकादमियां स्थापित हुईं। विभिन्न राज्यों ने अपने यहां की परंपरागत

लोक नाट्य षैलियों को संरक्षण प्रदान करने में महत्वपूर्ण योगदान किया। अभिनय, मंच सज्जा, निर्देशन आदि विभिन्न रंग क्रियाओं का प्रशिक्षण देने के लिए नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा की स्थापना हुई। दिल्ली में स्थित इस राष्ट्रीय संस्थान में निदेशक के पद पर कार्य करते हुए प्रख्याता रंगकर्मी इब्राहीम अलकाजी ने भारतीय रंगमंच के स्तर को ऊपर उठाने, रंगकर्मीयों, अभिनेताओं को शिक्षित करने में ऐतिहासिक योगदान किया। सवंय अलकाजी के निर्देशन में प्रस्तुत नाटकों ने भारतीय रंगमंच को गहरे रूप से प्रभावित किया है।

आज भारतीय रंगमंच बाहरी और अंदरूनी चुनौतियों के बावजूद न केवल अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं वरन् अनवरत चलने वाले नाट्य प्रदर्शनों से स्पष्ट है कि रंगमंच की जरूरत कभी समाप्त नहीं होगी।

बोध प्रश्न 3

1) पारसी थियेटर के संबंध में कहे गये निम्नलिखित कथनों में से सही और गलत कौन-कौन से हैं?

- क) पारसी थियेटर में सिर्फ गुजराती में नाटक खेले जाते थे।
- ख) पारसी थियेटर के नाटकों पर "इंदर सभा" का काफी प्रभाव था।
- ग) पारसी थियेटर के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक और पौराणिक प्रसंगों पर आधारित होते थे।
- घ) पारसी थियेटर में गीतों का प्रयोग बिल्कुल नहीं होता था।
- ड.) पारसी थियेटर ने भारतीय सिनेमा को प्रभावित किया।

2) भारत में जनोन्मुखी रंगमंच को आंदोलन का रूप देने में किस संस्थान का योगदान था? संस्थान ने यह कार्य कैसे किया?

3) जनोन्मुखी नाट्य मंच ने भारतीय रंगमंच को किन-किन रूपों में प्रभावित किया।

4) निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिए।

क) नाटक और रंगमंच को प्रोत्साहित करने के लिए किस राष्ट्रीयता संस्था की स्थापना की गई।

ख) रंगमंच संबंधी शिक्षण देने हेतु कौन-सी राष्ट्रीय संस्था स्थापित की गई?

ग) नील की खेती के द्वारा किसानों के पोषण को प्रस्तुत करने वाले नाटक और नाटककार का नाम क्या था?

घ) नुक्कड़ नाटक का तात्पर्य क्या है?

5) आधुनिक भारतीय रंगमंच के विकास में लोक नाट्य शैलियों के योगदान को बताने वाले कथनों के आगे सही का निषान लगाइए।

- क) लोक नाट्य शैलियों ने भारतीय रंगमंच को लोक जीवन से जोड़ा।
ख) लोक नाट्य शैलियों ने भारतीय रंगमंच को रूढ़िवादी और प्रतिगामी बनाया।
ग) लोक नाट्य शैलियों ने भारतीय रंगमंच में नये प्रयोगों का रास्ता अवरुद्ध कर दिया।
घ) लोक नाट्य भारतीय रंगमंच को कल्पनाशील और गहराई प्रदान करने में सहायक हुआ।
ङ) लोक नाट्य के अभिनेता और दर्शक में घनिष्ठता स्थापित करने में मदद की।

12.6 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपको स्पष्ट हो गया होगा कि:

- भारत में रंगमंच की परंपरा अति प्राचीन है। ग्रीक नाटकों की तरह संस्कृत में नाट्य लेखन और रंगमंच संबंधी नियमों का अपूर्व विकास हुआ है। इससे नाट्य शास्त्र जैसा ग्रंथ और कालिदास, भवभूति जैसे महान, नाटककार दिए हैं।
- भारत में लोक नाट्य की परंपरा भी उतनी ही पुरानी है जितनी संस्कृत नाट्य परंपरा। संस्कृत नाटकों की अभिजात परंपरा तो हजार-बारह सौ वर्षों तक अवरुद्ध रही परंतु लोक नाट्य परंपरा सदैव बनी रही। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में दो दर्जन से अधिक लोक नाट्य शैलियां मौजूद हैं और ये सैकड़ों वर्षों से व्यापक लोक समुदाय को नाट्य रस का आस्वादन देती रही है। आधुनिक भारतीय रंगमंच के विकास में भी इस परंपरा का योगदान कम नहीं है।
- भारत में रंगमंच को पुरुआत का श्रेय यद्यपि विदेशियों को है जिन्होंने अपने मनोरंजन के लिए थियेटर की स्थापना की परंतु इनमें खेले गये नाटकों को देखकर और षेक्सपियर, इब्सन आदि नाटककारों के नाटक पढ़कर भारतीयों में अपना रंगमंच स्थापित करने की प्रेरणा जाग्रत हुई। आधुनिक भारतीय रंगमंच पर आरंभ में एलिजाबेथीयन थियेटर का प्रभाव दिखाई देता है। बाद में, वह अन्य पाश्चात्य नाट्य शैलियों के साथ-साथ संस्कृत और लोक नाट्य शैलियों से भी प्रेरणा ग्रहण करता रहा।
- भारतीय रंगमंच के लिए नाट्य लेखन की पुरुआत अंग्रेजी और संस्कृत के नाटकों के अनुवादों से हुई क्योंकि पुरुआती रंगमंच के लिए भारतीय भाषाओं में नाटक उपलब्ध नहीं थे परंतु उन्नीसवीं सदी के मध्य से मौलिक नाटक लेखन की पुरुआत हो गई। नाटकों के विषय ऐतिहासिक, पौराणिक और तत्कालीन सामाजिक यथार्थ से प्रेरित थे जिनमें राष्ट्रीय चेतना और सामाजिक समस्याओं को अभिव्यक्ति दी गई। आरंभ के साहित्यिक नाटक मंचन की दृष्टि से कमजोर थे

परंतु धीरे-धीरे नाटक मंच की जरूरतों को ध्यान में रखकर लिखे जाने लगे। भारतीय नाटककारों में दीनबुधु मित्र, माइकेल मधुसूदन दत्त, भारतेंदु हरिश्चंद्र, जयशंकर प्रसार, रवींद्रनाथ ठाकुर, मामा वरेरकर, कुसुमाग्रज, पी. लंकेष, गिरीष कर्नाड, विजय तेंदुलकर, बादल सरकार, मोहन राकेश, जी. पी., देषपांडे आदि उल्लेखनीय हैं।

- आधुनिक भारत रंगमंच के विकास में पारसी थियेटर का योगदान कम नहीं है। पारसी समुदाय द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ किये गये इस रंगमंच ने ऐसे मेलोड्रामिक नाट्य शैली की शुरुआत की जिसने सवाक फिल्मों से पूर्व लगभग आठ दशकों तक शहरी मध्य और निम्न मध्य वर्ग को मनोरंजन प्रदान किया। इंदर सभा से प्रभावित इसकी नाट्य शैली में वे सभी तत्व मौजूद थे जो बाद में पॉपुलर सिनेमा के विकास में भी सहायक बने। पारसी थियेटर ने भी कई श्रेष्ठ नाटककार और कलाकार दिये। पारसी नाटक गुजराती, उर्दू-हिंदी और मराठी में खेले जाते थे।
- बीसवीं सदी के चौथे-पांचवें दशक में वामपंथी आंदोलन के उभार के साथ जनोन्मुखी रंगमंच भी सामने आया। भारतीय जन नाट्य संघ (इप्टा) ने ऐसे रंगमंच को विकसित करने में मदद की जिसमें साम्राज्यवाद-फासीवाद विरोधी भावनाओं को अभिव्यक्ति मिली, जिसने भारत की षोषित और उत्पीड़ित जनता की वेदन को अभिव्यक्ति दी और उन्हें सामूहिक संघर्ष की प्रेरणा दी। जनोन्मुखी रंगमंच से जुड़े रंगकर्मियों ने किसानों और मजदूरों के बीच जाकर नाटक खेले। इसने क्षेत्रीय भाषाओं के रंगमंच के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस रंगमंच ने न केवल अच्छे रंगकर्मी दिये वरन् इसने नृत्य, संगीत और अभिनय के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कलाकार प्रदान किये। इप्टा की गतिविधियों ने उत्कृष्ट सिनेमा के विकास में भी मदद की है। इप्टा की इस परंपरा को सातवें-आठवें दशक के नुक्कड़ नाटक के आंदोलन ने आगे बढ़ाया।
- भारतीय रंगमंच के विकास में संस्कृत, पाष्चात्य और लोक नाट्य शैलियों की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। इसके साथ-साथ एकांकी, गीति नाट्य, नृत्य नाटक (बैले) और ऑपेरा शैली के नाटकों का योगदान भी उल्लेखनीय है। इनके अलावा रेडियो के लिए भी नाटक लिखे गये और प्रसारित हुए।

12.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

- 1) उत्तर के लिए देखें उपभाग 12.2.2
- 2) ऋग्वेद
- 3) 1-ग, 2-ड़, 3-ख, 4-क, 5-घ

बोध प्रश्न 2

- 1) क) ख) ग) घ) ङ)
- 2) धार्मिक और लौकिक
- 3) ऐतिहासिक, पौराणिक और समस्यामूलक सामाजिक
- 4) इन विषयों को नई दृष्टि से पुनर्व्याख्या करने की कोषिष
- 5) क) धर्मवीर भारती – हिंदी, अंधायुग

ख) पी. लंकेष	—	कन्नड़, सक्रांति
ग) बादल सरकार	—	बंगला, एवम् इन्द्रजीत
घ) विजय तेंदुलकर	—	मराठी, घासीराम कोतवाल
ङ) संत सिंह सेखो	—	पंजाबी, कलाकार

बोध प्रश्न 3

- 1) क) ख) ग) घ) ङ)
- 2) इंडियन पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन (इप्टा)
- 3) क) साम्राज्यवाद-फासीवाद विरोधी भावनाओं का प्रसार किया।
ख) शोषित-उत्पीड़ित जनता की वेदना को अभिव्यक्ति दी।
ग) किसानों और मजदूर आंदोलनों के द्वारा उनके बीच रंगमंच को पहुंचाया।
घ) क्षेत्रीय रंगमंच को विकसित करने में मदद की
- 4) क) संगीत नाटक अकादमी
ख) नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा
ग) नील दर्पण, दीनबंधु मित्र
घ) प्रेक्षागृह के बाहर जनता के बीच गलियों, सड़कों और चौराहों पर खेले जाने वाले नाटक।
- 5) क) ख) ग) घ) ङ)

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY